करती हैं जिसके बारे में विचारा, माना, सोचा, कल्पना एवं विश्वास किया जाता है। ऐसी स्थितियों में प्राक्कल्पना बनाना या प्रारूप का निर्माण करने की क्रिया, प्राक्कल्पना अथवा प्रारूप के वास्तविकता में बदलने के संभव परिणामों के प्रति तटस्थ नहीं होता, केवल इसलिये कि किसी व्यक्ति ने प्राक्कल्पना को विचारा है या प्रारूप बनाया है। इसका खतरा दूरस्थ अथवा दूर की कौडी हो सकता है लेकिन यदि यह संभव है तो इसका ध्यान किया जाना और इसके निहित किसी न किसी रूप में कुछ किया जाना आवश्यक है। सामाजिक विज्ञान में अध्येय घटनाओं की विशिष्ट व्यावर्तक विशेषता के निहितार्थ एवं परिणाम तथा उनके द्वारा मनुष्य के ज्ञानात्मक क्रिया व्यापारों को प्रस्तुत चुनौतियाँ वास्तव में विशाल हैं। लेकिन इसके पहले कि उन सब की खोजबीन हो, उन्हें रूपायित किया जाय, और सामना किया जाय, समाज वैज्ञानिक को पहले उस स्थिति का बोध होना चाहिये तथा उसकी विशिष्टता को स्वीकार करना चाहिये जिसमें वह अपने को पाता है। स्वपूरित भविष्य कथन की घटना इस वैशिष्ट्य को इस केन्द्रीय रूप में रेखांकित करती है कि समाज वैज्ञानिकों द्वारा इस पर किया गया चिन्तन परिवर्तन के लिये उस अर्कमेडी दृष्टिबिन्दु को प्राप्त करा सके जिसकी समाज विज्ञानों को आज अत्यन्त आवश्यकता है।

Merton, Robert, K. 1957, Social Theory and Social Structure Revised Edition N.Y. Free Press.

(अनुवाद : डॉ. योगेश गुप्ता)

क्या गोपियाँ कृष्ण को सचमुच प्रेम करती थीं? भारतीय परम्परा में भक्ति-पुरुषार्थ

एक पुरुषार्थ के रूप में भक्ति को भारतीय परम्परा में जिस आदर्श की खोज के रूप में देखा गया है, गोपियाँ उसका श्रेष्ठ उदाहरण हैं। गोपियों में भी विशेष रूप से राधा में यह आदर्श अपनी पूर्णता में चरितार्थ होता है। हालांकि आदर्श की यह चरितार्थता स्पष्टत: दो भागों में विभाजित है, पहला जब कृष्ण उपस्थित हैं, और दूसरा जब वे प्रेम का शाश्वत आवास छोड़कर चले जाते हैं और गोपियों को उनके बगैर रहना पड़ता है। पहली शाश्वत क्रीड़ा-भूमि है, दूसरी शाश्वत स्मृति की भूमि है जो पहली की पुनर्रचना करती है और उसे दुबारा से जीती है। पहली दशा में कृष्ण गोपियों को पाने की उतनी ही चेष्टा करते हैं जितनी गोपियाँ उनको पाने की करती हैं, भले ही उपलब्ध पाठ इसे स्पष्ट नहीं करते कि दोनों पक्षों की यह चाहना समान, अन्योन्य और पूरक है या नहीं है। लेकिन पहली दशा में इसको लेकर भले ही कुछ सन्देह हो, दूसरी में इसकी अनुपस्थिति को लेकर बमुश्किल ही सन्देह किया जा सकता है। यहाँ केवल गोपियाँ कृष्ण के प्रति लालायित होती हैं, स्वयं कृष्ण उन्हें बमुश्किल ही कभी याद करते हैं, उनके साथ बिताये गये आह्लादपूर्ण दिनों को तो और भी कम।

तथापि, भले ही गोपियों को कृष्ण के साथ बिताये गये दिनों की स्मृति को शाश्वत रूप से 'जीते' हुए चित्रित किया गया है, वे कृष्ण को दुबारा तलाशने का जरा भी उद्यम नहीं करतीं, यहाँ तक कि वे यह भी जानने का प्रयत्न नहीं करतीं कि वे कहाँ और किस दशा में हैं।

हालांकि ये सिर्फ गोपियाँ ही नहीं हैं जो कृष्ण के बारे में जानने को लेकर पूरी तरह से उदासीन हैं या उनसे मिलने का कोई यत्न नहीं करतीं, इसके बावजूद कि वे सारे समय उनको याद करती रहती हैं, बल्कि उनकी स्मृति में ही जीवन बिता रही हैं। नन्द और यशोदा जिन्होंने उन्हें पाला-पोसा है और जिनके साथ उन्होंने अपना पूरा बचपन बिताया है, वे भी यही करते हैं। इसका कोई साक्ष्य नहीं है कि यशोदा या नन्द ने कृष्ण से मिलने का कोई यत्न किया हो या उनके बारे में कुछ भी जानने की कभी कोई कोशिश की हो। माता-पिता आमतौर से अपने बच्चों को

लेकर कुछ ज्यादा ही परेशान रहते हैं, भले ही वे कितने ही बड़े क्यों न हो गये हों, लेकिन नन्द और यशोदा को इस रूप में कभी-भी नहीं दिखाया गया है। दरअसल, उन्हें तो गोपियों की तरह उनकी स्मृति में 'जीते' हुए या उनकी उपस्थिति के प्रति लालायित होते भी नहीं दिखाया गया है। यह आश्चर्यजनक है या होना चाहिए, क्योंकि कृष्ण के बचपन के सारे किस्से एक बालक के रूप में उनके प्रति यशोदा के वात्सल्य के परिप्रेक्ष्य में ही कहे गये हैं।

यही बात उनके बचपन के दोस्तों के बारे में भी सही है। उनमें से भी कोई कभी उनसे मिलने की कोशिश नहीं करता। उन्हें तो उनको याद करते हुए या उनके प्रति लालायित होते हुए भी नहीं दिखाया गया है। अवश्य ही सुदामा इसका अपवाद हैं, लेकिन वे उनके विद्यार्थी जीवन के मित्र थे और, हालांकि इस कथा को मैत्री के एक आदर्श की तरह पेश किया जाता है, उसमें ऐसा कुछ है नहीं। न केवल कृष्ण को सुदामा के बारे में सोचते या बात करते हुए ठीक उसके पहले तब दिखाया गया है जब वे अपनी पत्नी के आग्रह पर उनसे मिलने आते हैं, बल्कि इस मुलाकात के बाद भी कृष्ण उनसे न तो सम्पर्क बनाने की कोशिश करते हैं और न ही उनसे मिलने का कोई उद्यम।

इस तरह न तो गोपियाँ, न पालक माता-पिता नन्द और यशोदा और न ही बचपन के या विद्यार्थी जीवन के दोस्त ही कृष्ण से उसके बाद मिलने की कोई कोशिश करते हैं जब वे अपने पीछे अपना बचपन और किशोरावस्था छोड़कर प्रौढ़ जीवन में प्रवेश कर जाते हैं। जहाँ तक कृष्ण का सवाल है, वे भी कभी पीछे मुड़कर नहीं देखते, यहाँ तक कि यशोदा की ओर भी नहीं जिन्होंने उन्हें बचपन में इतना स्नेह दिया, और न ही गोपियों की ओर जिन्होंने उन्हें इतना उत्कट प्रेम किया।

कृष्ण के प्रौढावस्था के प्रेम एक अलग ही रङ्ग में रंगे हुए हैं, उनमें किशोरावस्था के प्रेम जैसी उत्कटता और आवेग नहीं है। इसी के साथ, उनका अन्त विवाह में होता है, और इस तरह वे उस चीज का प्रतीक नहीं बनते जिसके तात्त्विक रूप को, भारतीय परम्परा में, राधा प्रस्तुत करती है। भारतीय परम्परा में प्रणयी चेतना की जिस आदर्श अवस्था की कल्पना की गयी है उसके परिप्रेक्ष्य में रुक्मिणी या सत्यभामा या ऐसी ही अनन्त पत्नियों के बारे में क्या कभी-भी कोई बात करता है? तब भी, जैसा कि सभी जानते हैं, राधा बहुत बाद में आकर इस आदर्श को एक 'शिल्प' प्रदान करती है और हम समझ नहीं पाते कि वल्लभ और चैतन्य के दृश्य में आने के पहले तक पञ्चरात्र परम्परा की उस विष्णु-केन्द्रित भक्ति का आखिर हुआ क्या जिसे तमाम गैर-अद्वैतवादी आचार्यों ने चुना था और जिसका समर्थन किया था।

ब्रह्म की जगह पर विष्णु को और बाद में विष्णु की जगह पर कृष्ण को रखने, बल्कि इन्हें तादात्म्य मान लेने पर भारतीय परम्परा का ध्यान प्रायः नहीं

गया है, कम से कम इसे रेखाङ्कित तो नहीं किया गया है। अद्वैतसिद्धि के रचयिता मधुसूदन सरस्वती का यह अविश्वसनीय दावा कि वे कृष्ण से भिन्न या श्रेष्ठ किसी वास्तविकता को नहीं जानते ("कृष्णात् परं किमपि तत्त्व अहं न जाने"), इसका प्रमाण है। निश्चय ही वैष्णव भक्ति का क्षेत्र उस ब्रह्म में आस्था के क्षेत्र से कहीं व्यापक था जिसके ग्राहक आठवीं सदी में शङ्कराचार्य के दृश्य में आने से पहले तक बहुत थोड़े से थे, जैसा कि ब्रह्मसूत्र पर शङ्कर के पूर्व किसी भी तरह भाष्य के अभाव में जाहिर है। लेकिन कृष्ण को विष्णु का अवतार भले ही माना गया, भक्ति और उपासना का विषय विष्णु ही थे, जैसा कि यामुन से लेकर बाद के तमाम महत्वपूर्ण आचार्यों द्वारा भक्ति और उपासना के लिए कृष्ण की बजाय विष्णु के चुनाव से साफ जाहिर है।

यह, एक अर्थ में, आश्चर्य की बात है कि कृष्ण को समर्पित उत्कट आवेगमयी भक्तिमूलक प्रेम-कविता के सबसे प्राचीन प्रमाण हमें दक्षिण में मिलते हैं। यह भी दक्षिण ही है जहाँ भक्ति-परम्परा के तमाम ग्रन्थों के मूल स्रोत यानी **श्रीमद्भागवत** की रचना हुई। इस दृष्टि से दक्षिण की मीरा कही जाने वाली अन्दल का नाम सुविख्यात है और विल्हेम हार्डी ने ज्यादातर सम्बन्धित तथ्यों की चर्चा अपनी पुस्तक **विरह भक्ति** में की है जो कि इसी विषय पर केन्द्रित है। यह भी है कि तमाम आचार्यों ने श्रीमद्भागवत को प्रमाण-रूप में स्वीकार किया है, और तब भी अपने लेखन में, बजाय कृष्ण के, विष्णु की भक्ति को ही अपनाया, जैसा कि हमने पहले भी उल्लेख किया है। शायद उन्हें अन्दल-परम्परा का रागात्मक तत्त्व और शृङ्गार रास नहीं आया और इसीलिए उन्होंने अपनी उपासना और भक्ति के आलम्बन के रूप में एक ऐसे देवता को चुना जिसका रोमानी भावना से कोई लेना-देना नहीं था।

अगर ब्रह्म का विष्णु से और विष्णु का कृष्ण से क्रमिक विस्थापन भारतीय भक्ति-परम्परा के विकास से प्रतिबद्ध पाठ में खास विमर्श या पड़ताल का विषय नहीं बना तो इसकी तो और भी कम गुंजाइश थी कि **महाभारत** के कृष्ण के **श्रीमद्भागवत** के कृष्ण से और बाद में **गीतगोविन्द** के कृष्ण से विस्थापन पर कोई ध्यान जाता। यह सही है कि पिछली सदी में बङ्किम ने महाभारत के कृष्ण के उद्धार का साहसिक प्रयत्न किया, किन्तु जैसा कि सभी जानते हैं, उन्हें इसमें कोई खास सफलता नहीं मिली। यही हश्र उन तमाम दूसरे प्रयत्नों का भी हुआ जिन्होंने **गीता** के कर्ममूलक सन्देश को इसका माध्यम बनाया। दरअसल, गीता के सुप्रसिद्ध व्याख्याकारों ने महाभारत में दिये गये इस सन्देश के समावेश की और उस परिप्रेक्ष्य की भी जिसमें यह सन्देश दिया गया है, विधिवत् उपेक्षा की है।

महाभारत के कृष्ण का **श्रीमद्भागवत** और **गीतगोविन्द** के कृष्ण से सम्पूर्ण आच्छादन एक ऐसी सङ्कटना है जिस पर भारतीय भक्ति-परम्परा के अध्येताओं का समुचित ध्यान गया ही नहीं है। इन बाद के ग्रन्थों में ऐसी क्या चीज थी जो उन

लोगों को उत्तरोत्तर आकर्षित करती गयी जो भक्ति के अनुभूति-केन्द्रिक मार्ग की तलाश करना चाहते थे? क्या महाभारत में चित्रित कृष्ण के व्यक्तित्व में कोई ऐसे तत्त्व हैं जिन्हें कृष्ण के साथ उत्कट भावनात्मक और आवेगपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की दृष्टि से असङ्गत कहा जा सके? अगर हम अपनी परम्परा में भक्ति के आदर्श को एक पुरुषार्थ के रूप में समझना चाहते हैं तो ये वे प्रश्न हैं जिन पर विचार करना, जिनकी पूरे विस्तार से छानबीन करना, जरूरी है।

महाभारत के कृष्ण बालक या कि नवयुवक नहीं हैं जिनका जीवन क्रीड़ाओं या प्रेम के स्वप्नों पर केन्द्रित हो। वे पूरी तरह से विकसित, परिपक्व वयस्क हैं–अपने समय की राजनैतिक घटनाओं में गहरे पैठे हुए और इनसे उत्पन्न नैतिक द्वन्द्वों को हल करने की अत्यन्त मुश्किल समस्याओं में व्यस्त। सार्वजनिक जीवन में धर्म से सम्बन्धित प्रश्न उनके केन्द्रीय सरोकार हैं और इन सारे प्रश्नों का ताल्लुक इस एक केन्द्रीय प्रश्न से है कि धर्म की रक्षा के लिए युद्ध किया जाना चाहिए या नहीं।

पर ऐसा कृष्ण उस आवेगपूर्ण उत्कण्ठा और प्रेम का आलम्बन कैसे बन सकता है जो उस चीज के केन्द्र में है जिसका प्रतीक गोपियाँ हैं? महाभारत का वातावरण वह नहीं है जो श्रीमद्भागवत का है; गीत गोविन्द का तो और भी नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि दैवीय श्रेष्ठता का प्रभामण्डल यहाँ उनके व्यक्तित्व के चारों ओर मौजूद है और यह कि अर्जुन को यहाँ उस चीज के निकटतम कहा जा सकता है जिसे परम्परा में भक्त की संज्ञा दी गयी है। यह सखाभाव है, भक्ति का मैत्री-रूप, जिसे ईश्वर के साथ बनाये जा सकने वाले भक्ति के रिश्ते के पाँच रूपों में से एक माना गया है। लेकिन मैत्री प्रेम से भिन्न है। क्या इसमें यह सङ्केत निहित है कि कृष्ण के प्रति भक्ति-सम्बन्ध के जिस रूप को महाभारत में आदर्श माना गया है वह सिर्फ वही है जिसे अर्जुन प्रस्तुत करते हैं? स्वयं इस सम्बन्ध की ओर अर्जुन उसी पदावली में सङ्केत करते हैं, खास तौर से गीता के ग्यारहवें अध्याय में विश्वरूप दर्शन के परिप्रेक्ष्य में। विश्वरूप प्रसंग दो बार महाभारत में और दो बार श्रीमद्भागवत में आता है। पहली बार वह दुर्योधन की राज्यसभा में तब घटित होता है जब कृष्ण दोनों पक्षों के बीच युद्ध को टालने के अपने अन्तिम प्रयत्न की विफलता के बाद राजसभा से जाने को होते हैं और दुर्योधन इसमें बाधा डालता है। यह बाद वाले उस भव्य प्रसङ्ग का एक कमजोर प्रथम प्रारूप है जो गीता में आता है। यहाँ अर्जुन प्रार्थना करते हैं कि कृष्ण के 'वास्तविक' स्वरूप को न जानने के कारण अगर उन्होंने परिहास भाव से हँसी-हँसी में या कौतुकवश कृष्ण से कुछ कह दिया हो तो उन्हें इसके लिए क्षमा कर दिया जाए। लेकिन इस स्थिति में सबसे ज्यादा परेशान करने वाली बात यह है कि 'वास्तविक' वास्तविकता, जिसे साधारण आँखों से नहीं देखा जा सकता, इस कदर 'भयावह' है कि अर्जुन उनसे

प्रार्थना करते हैं कि वे वापस अपना पूर्व रूप धारण करें ताकि वे उनके प्रति अपनी सामान्य भावना में स्थित हो सकें।

लेकिन विश्वरूप ही 'वास्तविक' कृष्ण थे, और उनके दर्शन के लिए 'दिव्य चक्षुओं' का होना जरूरी था क्योंकि साधारण नेत्रों से उन्हें कोई भी नहीं देख सकता था। यही नहीं, यदि अर्जुन के कथन पर भरोसा किया जाए तो विश्वरूप में चरितार्थ कृष्ण की उस 'वास्तविक' वास्तविकता के प्रति सामान्य मानवीय भावनाएँ बनाये रख पाना असम्भव था। तब, क्या इसका यह अर्थ हुआ कि एक मनुष्य के रूप में 'वास्तविक' कृष्ण को 'प्रेम' नहीं किया जा सकता–एक 'प्रेमी' के रूप में तो दूर की बात है, एक 'मित्र' के रूप में भी? कृष्ण के वृन्दावन से चले जाने के बाद गोपियाँ उनकी तलाश नहीं करतीं, क्योंकि जिस कृष्ण को उन्होंने प्रेम किया है उसकी स्मृति को वे बेदाग सुरक्षित रखना चाहती हैं। लेकिन अगर उन्होंने उनकी खोज की होती, उन्हें तलाशा होता, तो वे भी शायद, अर्जुन की ही तरह, कहतीं कि हे कृष्ण! अपने मूल रूप में लौट आएँ ताकि हम आपको उसी तरह प्रेम कर सकें जिस तरह पहले किया करती थीं। प्रौढ़ कृष्ण का 'वास्तविक' रूप गोपियों के प्रेम के लिए उतना ही प्रतिकूल होता जितना कि अर्जुन को अपने सखाभाव के लिए उनका 'वास्तविक' रूप था।

श्रीमद्भागवत में भी दो प्रारुप हैं और दोनों में बाल कृष्ण द्वारा यशोदा को विश्वरूप के दर्शन कराये गये हैं; पहली बार तब जब शिशु कृष्ण जम्हाई लेते हैं, और दूसरी बार, अपेक्षाकृत सोद्देश्य स्तर पर, तब जब यशोदा उन पर मिट्टी खाने का आरोप लगाती हैं और उनके मना करने पर प्रमाण-स्वरूप उनसे मुँह खोलकर दिखाने को कहती हैं। किन्तु ये दोनों विश्वरूप केवल विस्मय जगाते हैं, महाभारत के विश्वरूपों की तरह आतङ्क नहीं जगाते। वे अपेक्षाकृत अधिक परिपक्व भी प्रतीत होते हैं क्योंकि उनमें एकत्व भी कहीं ज्यादा है, इस अर्थ में कि यशोदा इन दोनों रूपों के भीतर तमाम दूसरों के अतिरिक्त खुद को भी देखती हैं। लेकिन मृत्यु और विनाश के तत्त्व उनमें नहीं हैं। उनमें महाकाल के सर्वसंहारक रूप की कोई झलक नहीं है जिसे गीता में आग्रहपूर्वक दिखाया गया है। इसमें निहित नैतिक सन्देश शायद यही है कि ईश्वर का विश्वरूप कोई 'एक' नहीं है, लेकिन वह कोई सा भी क्यों न हो, वह केवल आतङ्क या विस्मय ही जगा सकता है, प्रेम और सखाभाव नहीं; ये भावनाएँ केवल तभी पुष्पित-पल्लवित हो सकती हैं जब वह दृश्य मानवीय रूप तक ही सीमित हो। प्रेम एक मानवीय भाव है जिसे केवल मानवीय परिप्रेक्ष्य में ही अनुभव किया जा सकता है, लेकिन इसमें एक अन्तर्भूत आदर्श है, जिसे उसके चरम-रूप में पाने का उद्यम समूची भक्ति करती है।

यह सादृश्य निरा आरोपण नहीं है, भले ही थोड़े-बहुत प्रमाण के आधार पर यह भी क्यों न दर्शाया जा सकता हो कि कृष्ण के वृन्दावन से चले जाने के बाद गोपियों ने उनकी तलाश की थी। वे उन्हें जिस तरह का प्रेम करती थीं उसे उस

'सीमाबद्ध' दुनिया के बाहर कायम रखना लगभग असम्भव था जहाँ से उसे पोषण मिलता था और जो उसे उसकी चरम निर्दोषिता में पनपने का अवसर देती थीं। यह तथ्य कि गोपियाँ पहले से ही विवाहित थीं, इस स्थिति के रोमान को और भी मार्मिक बना देता है, यद्यपि इसके लगभग कोई साक्ष्य नहीं हैं कि कृष्ण के प्रति उनके प्रेम को लेकर उनके पति उनसे असन्तुष्ट या उनके प्रति ईर्ष्यालु थे। वे तो बल्कि इसके प्रति, अगर इस स्थिति के सन्दर्भ में ऐसा शब्द प्रयोग किया जा सके तो, 'मौन सहमति' देते प्रतीत होते हैं।

हाँ, दक्षिण से ऐसे कुछ साक्ष्य अवश्य मिलते हैं जिनसे लगता है कि नप्पिन नयी नामक एक गोपी कृष्ण से विवाहित थी। लेकिन ये हाशिये की चीजें रही हैं और उस रिश्ते के मर्म के सन्दर्भ में बेमानी हैं जिसे भारतीय भक्ति-परम्परा में सामान्य तौर पर गोपियाँ और विशेष तौर पर राधा रूपायित करती है। यह सम्बन्ध का परकीया रूप था जो प्रतिमान बना, भले ही यह दर्शाने के लिए पर्याप्त प्रमाण न हों कि उनका 'विवाहित' होना कृष्ण के साथ उनके रिश्ते के आड़े आता था।

गोपियों के प्रति कृष्ण के प्रेम का उस परकीया भाव से कोई लेना-देना नहीं था जिसे भक्ति-परम्परा में संवर्धन और मूल्य प्रदान किया गया है और जिसे, इस आन्दोलन को चैतन्य द्वारा दी गयी एक नयी दिशा के बाद, गोस्वामियों ने सैद्धान्तिक शक्ल दी। जहाँ तक इस परकीया भाव का प्रश्न है, जिस पर मुकुन्द लाठ ने लिखा है, इसकी कोई गुंजाइश कृष्ण के सन्दर्भ में नहीं बनती क्योंकि अपने वृन्दावन-काल में कृष्ण विवाहित नहीं थे। प्रेम के पोषण और संवर्धन के लिए जिस सच्चे सम्बन्ध को आदर्श माना गया है उसका सही मेल तो शायद तभी बैठ सकता है जब दोनों ही पक्ष विवाहित हों, या और भी बेहतर होगा यदि वे उस स्थिति में हों जिसका चित्रण शेक्सपीयर ने रोमियो और जूलियट में किया है। लेकिन परकीया की धारणा को उससे कहीं ज्यादा व्यापक व्याख्या की जरूरत है जितनी कि वह अब तक की गयी है।

संसार के तमाम साहित्य से इस विचार की पुष्टि होती है कि प्रेम अपनी उत्कटता की चरम अवस्था को तभी प्राप्त कर सकता है जब प्रिय के साथ मिलन के मार्ग में दुर्जेय बाधाएँ हों, या यह कि वह केवल विरह में ही पुष्पित-पल्लवित होता है–और भक्ति साहित्य इस विचार को दुनिया के किसी भी देश के मुकाबले में कहीं अधिक प्रोत्साहित करता प्रतीत होता है। फिर भी भक्ति के अनुशीलन के परिप्रेक्ष्य में यह एक ऐसी समस्या खड़ी करता है जिसे, जहाँ तक मेरी जानकारी है, इस परम्परा में कभी लक्ष्य नहीं किया गया।

जैसा कि सभी जानते हैं, भक्ति केवल उसी रूप तक सीमित नहीं है जिसे 'मधुरा भक्ति' कहा गया है या जो कृष्ण के साथ केवल राधा और गोपियों के रिश्ते में चरितार्थ होती है। भक्ति के दूसरे रूप भी उतने ही प्रामाणिक हैं। लेकिन कोई भी भक्त अपने उत्कट अनुशीलन के लिए वियोगरूपता की या कि उन

सामाजिक अथवा अन्य किस्म की बाधाओं की अपेक्षा नहीं करता जो उसकी भावदशा को गहराने और उस आवेगपूर्ण उत्कटता को क्रियाशील करने के लिए जरूरी हों। वस्तुत: 'आवेगपूर्ण उत्कटता' जैसा पद उनके सन्दर्भ में अनुपयोगी प्रतीत होता है। कौन होगा जो 'सख्य' या 'वात्सल्य' या 'दास्य' भक्ति के सम्बन्ध को इस पदावली में समझना चाहेगा?

एक और भी भेद है जिस पर भक्ति-परम्परा सम्बन्धी लेखन में बहुत ध्यान नहीं दिया गया। भक्ति का कोई भी रूप, अलावा उसके जो अपने उत्कृष्ट रूप में गोपियों में पाया गया है, ईश्वर से वियोग के उत्कट अनुशीलन और वृद्धि की अपेक्षा नहीं करता। बजाय इसके, जिनके साथ उनके ये सम्बन्ध हैं उनके साथ वे एकात्म होना चाहते हैं और इन्हीं का उत्तरोत्तर विमर्श वे करते हैं। निश्चय ही इन सम्बन्धों के बीच गहरे और आन्तरिक भेद हैं और हमें इन भेदों में जाने की जरूरत नहीं है क्योंकि वे उस बुनियादी भेद को प्रभावित नहीं करते जिसमें माधुर्य सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में वे सभी साझा करते हैं, जैसा कि ऊपर कहा गया है।

समस्या इस बात से और भी जटिल हो जाती है कि कृष्ण के वृन्दावन से चले जाने के बाद उनकी तलाश कोई भी नहीं करता, न तो नन्द या यशोदा और न ही उनकी बाल लीलाओं में शामिल उनके कोई साथी। वात्सल्य शायद उस बिन्दु पर जाकर समाप्त हो जाता है जब आप बालक नहीं रह जाते, जब आप वयस्क हो जाते हैं। लेकिन क्या यही बात माता-पिता के साथ हमारे रिश्तों के सन्दर्भ में कही जा सकती है? क्या ऐसा नहीं है कि बच्चों के बड़े हो जाने के बाद भी माता-पिता सामान्यत: उनके प्रति वत्सल बने रहते हैं और उन्हें, कम से कम कभी-कभार, अपने साथ देखना चाहते हैं? यहाँ एक विलोम रिश्ता भी है और हम न केवल यह पूछने को विवश होते हैं कि यशोदा ने उन्हें पाने और बुलाने की कोशिश क्यों नहीं की, बल्कि यह भी कि खुद कृष्ण ने भी ऐसा क्यों नहीं किया। कम-से-कम गोपियों को तो याद किया भी गया है, जैसा कि उद्धव को गोपियों के पास भेजने से जाहिर है, जिसका उद्देश्य गोपियों को सांत्वना प्रदान करना उतना नहीं है जितना कि स्वयं उद्धव को यह सीख देना है कि सच्ची भक्ति उस विवेक और ज्ञान से कहीं ज्यादा बड़ी है जिसे उद्धव इतना महत्त्व देते हैं।

इस सब को लेकर जाहिर-सी आपत्ति यह बनती है कि हमारे निरूपण के पीछे सक्रिय सारी पूर्वमान्यताएँ पूरी तरह से गलत हैं; हम एक साहित्यिक कृति के चरित्रों को वास्तविक व्यक्तियों की तरह बरत रहे हैं और ऐसे प्रश्न उठा रहे हैं जो केवल वास्तविक व्यक्तियों के सन्दर्भ में ही अर्थपूर्ण हो सकते हैं, चरित्रों के सन्दर्भ में नहीं। लेकिन अगर इस आपत्ति को मान भी लिया जाये तब भी यह सवाल बना रहता है कि यह साहित्यिक कल्पना भक्ति के अपने अनुशीलन में एक विशेष आदर्श को ही क्यों चुनती है, दूसरों को क्यों नहीं चुनती। या, ऐसा क्यों है कि ये दूसरे आदर्श अस्तित्व में होने के बावजूद क्रमश: गौण होते जाते हैं और जल्दी ही

पूरी तरह से भुला दिये जाते हैं? आखिर **महाभारत** के कृष्ण मौजूद थे और उनके बारे में हर कोई जानता था क्योंकि इस महाकाव्य की कथा भारत की कल्पनाशील परम्परा में उससे कम केन्द्रीय नहीं है जितनी कि **रामायण** की कथा मानी जाती है। फिर भी **श्रीमद्भागवत** ने महाभारत के कृष्ण को, उनके इस परवर्ती जीवन की साभिप्राय उपेक्षा करते हुए, विस्थापित किया और उनके बचपन और युवावस्था से जुड़े उस जीवन का अवतरण किया जिसका कोई खास आधार उस पूर्ववर्ती पाठ में नहीं था। इसीलिए इसमें हमें व्याख्या और इच्छित उपज की स्वतन्त्रता उपलब्ध होती है और यह देखना अपने आप में रोचक और शिक्षाप्रद हो उठता है कि श्रीमद्भागवत के रचयिता ने यह किस तरह किया। उसने बहुत ही निपुणता के साथ बचपन के निर्दोष कौतुक और युवावस्था की सम्मोहक शृङ्गारिकता को ब्रह्माण्डीय सत्ता और दैवीय क्रीड़ा के साथ कुछ इस तरह अन्तर्गुम्फित किया है कि ऐसी जटिल बुनावट का दृष्टान्त किसी भी दूसरी सभ्यता में नहीं मिलता।

हालांकि जो ब्रह्माण्डीय और भक्तिपरक पृष्ठभूमि **श्रीमद्भागवत** में इतनी प्रभावी और व्यापक है वह कृष्ण के आरम्भिक जीवन पर केन्द्रित बाद के साहित्य में पृष्ठभूमि में चली जाती है और उसकी जगह वह शृङ्गारिक तत्त्व ले लेता है जिसे उसी ने वैधीकृत किया था और तब इनमें और दूसरी प्रेम-कविताओं में सिवा इनके नायक-नायिकाओं के नाम के, कोई भेद नहीं रह जाता। इस दृष्टि से **गीतगोविन्द** एक आदर्श उदाहरण है क्योंकि वह इस विषय पर लिखी गयी बाद की कृतियों के लिए एक मॉडल बनता है। इसके लिए आधार स्वयं श्रीमद्भागवत ही उपलब्ध कराता है, अपने प्रसिद्ध 'उद्धव-गोपी संवाद' के माध्यम से, जहाँ कृष्ण को न केवल विशुद्ध शृङ्गारिक रूप में प्रस्तुत किया गया है बल्कि जिनका चित्रण एक ऐसे शाश्वत-रूप से चञ्चल पुरुष के रूप में किया गया है जो नित-नये प्रेम-सम्बन्धों की तलाश में रहता है। फिर भी, कम से कम गोपियों को तो यह बात मालूम रही ही होगी कि कृष्ण इससे भिन्न हो ही नहीं सकते थे, क्योंकि अगर वे ऐसे होते तो वे केवल किसी एक ही गोपी को प्रिय होते, सभी को नहीं। दरअसल कृष्ण कहीं भी हों, गोपियाँ भी वहीं होने के लिए विवश हैं, क्योंकि कृष्ण को एक शाश्वत प्रेमी और बिना भेदभाव किये प्रेम करने वाले के रूप में देखा गया है, बशर्ते कि अन्य भी उन्हें पूर्णतः और बिना किसी शर्त के प्रेम करते हों और वे उसी लिङ्ग के हों जिस लिङ्ग की गोपियाँ थीं। इसीलिए आश्चर्य की बात है कि वृन्दावन के बाहर हम गोपियों के बारे में नहीं सुनते और, गोपियों ने वृन्दावन को न केवल कभी नहीं छोड़ा बल्कि अपने जीवन में उन्होंने कभी-भी किसी को भी अपने जैसा होने को प्रेरित नहीं किया।

श्रीमद्भागवत आत्मचेतस ढङ्ग से **महाभारत** के कृष्ण को लाँघने का प्रयत्न करती है और इसके लिए वह समूचे महाभारत पर आक्षेप करती है, जैसे उसकी रचना करने के बाद भी उसके रचयिता को शान्ति नहीं मिलती और वह खुद को

पूरी तरह से दुचित्तेपन की दशा में पाता है। कृति की शुरूआत में ही 'नारद-व्यास उपाख्यान' महज एक चातुर्यपूर्ण रेह्टॉरिकल युक्ति या, मीमांसा के अर्थ में कहें तो, महज एक 'अर्थवाद' नहीं है। इसका उद्देश्य व्यास को उनके धर्म-केन्द्रिक विमर्श की और धर्म और अधर्म के बीच द्वन्द्व के नाटक की व्यर्थता का बोध कराना है। राजनैतिक सामाजिक कर्म का जगत् एक बार फिर निस्सारता और अयथार्थ के निचले स्तर पर आ गया था। श्रीमद्भागवत का उद्यम बहुत दूरगामी था क्योंकि वह कर्म के जगत् की अद्वैतवादी गुहा तक जाता है और कर्म-प्रधान जीवन के प्रति उस अनास्था को जन्म देता है जिसका औपनिषदिक और श्रमण परम्पराओं ने भारत में लम्बे समय तक अनुशीलन और पोषण किया। यामुन से लेकर वल्लभ तक गैर-अद्वैत-वेदान्तवादी आचार्यों ने इस स्थिति से छुटकारा दिलाने के लिए कोई खास प्रयत्न नहीं किया। ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दि की शुरूआत के आस-पास विश्व-सभ्यता के इतिहास का सबसे विराट आन्दोलन घटित हुआ। कर्म-प्रधान जीवन के महत्व का नकार, कम से कम तत्कालीन दार्शनिक कृतियों में, किसी चुनौती का सामना करता प्रतीत नहीं होता। हाँ, पुरानी स्मार्त परम्परा अवश्य थी जो अब भी पारिवारिक, सामाजिक जीवन के मूल्यों पर बल दे रही थी। इसके अतिरिक्त वैदिक परम्परा के सचेत पुनरुद्धार के भी कुछ साक्ष्य विजयनगर साम्राज्य से और उसके भी पहले वेदों पर उसी दौर में प्रारम्भ हुई अनेक टीकाओं से मिलते हैं। एक अतिरिक्त साक्ष्य विधिपरक पाठों का भी है, खास तौर से **निबन्ध** साहित्य का, जिनमें इसी काल से आश्चर्यजनक वृद्धि होती है। हालांकि इन तमाम साक्ष्यों का आलोचनात्मक परीक्षण और मूल्याङ्कन अभी होना बाकी है, खास तौर से उस व्यापक राजनैतिक परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में जो पहले-पहल ईसा पूर्व 1200 के आस-पास उत्तर भारत में घटित हुआ और जिसका विस्तार दक्षिण तक हुआ, हालांकि जिसने किसी एक समय में कभी भी उस समग्र को नहीं समेटा जो आज भारत के नाम से जाना जाता है।

दोनों प्रवृत्तियों के बीच एकदम ठीक-ठीक सन्तुलन को तय कर पाना मुश्किल है। यही बात दोनों के बीच की अन्तर्क्रिया और सम्बन्ध के मामले में भी है। किन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि पहले **श्रीमद्भागवत** और फिर **गीतगोविन्द** के आने के बाद भारत के धार्मिक और आध्यात्मिक वातावरण में उल्लेखनीय बदलाव आया, इस कदर कि, जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, मधुसूदन सरस्वती जैसे अद्वैतवादी को यह कहना पडा कि "कृष्णात् परं किमपि तत्त्व अहं न जाने"। लेकिन कौन-से कृष्ण? निश्चय ही **महाभारत** के कृष्ण नहीं बल्कि सिर्फ वे जिनके गीत चैतन्य ने गाये थे; यानी वे जिनके विरह में राधा तड़पती हैं और जिनकी वे शाश्वत कामना करती हैं। राधा निरन्तर अपने मिलन की स्मृति में जीती रहीं लेकिन उन्होंने यह देखने का जरा भी प्रयत्न नहीं

किया कि यह मिलन एक बार फिर उस **गीतगोविन्द** में चरितार्थ और घटित हुआ था जो प्रेम में, बजाय वियोग के, मिलन की केन्द्रीयता पर एकाग्र है।

गीतगोविन्द ने इससे अधिक भी कुछ किया। अपने शुरूआती श्लोकों में वह श्रीमद्भागवत के 9 सर्गों में फैले और ईश्वर के विभिन्न अवतारों को समेटते मङ्गलाचरण का सङ्क्षेपीकरण करते हुए, 10 वें सर्ग के तमाम बाल-क्रीड़ा प्रसङ्गों को छोड़ते हुए गोपियों के उपाख्यान पर ध्यान केन्द्रित कर राधा को केन्द्रीय चरित्र बनाता है और **कामसूत्र** तथा **अलङ्कारशास्त्र** में उपलब्ध बारीकियों के साथ, विशेष-रूप से शृङ्गार रस के परिप्रेक्ष्य में, भरत के **नाट्यशास्त्र** की सामग्री को उठाता है। एक महान कलाकृति जन्म लेती है–कविता और सङ्गीत को इस तरह एक-दूसरे में घुलाते हुए कि उत्कट, आवेगमय प्रेम में निहित विभिन्न भावनाओं को एक ऐसे नृत्य में बाँधना सम्भव हो सका जो सम्मोहित दर्शकों के समक्ष इस समूचे कार्य-व्यापार को मूर्त कर देता है।

कविता, सङ्गीत और नृत्य के लिए गीतगोविन्द में एक नाटकीय आधार भी उपलब्ध है, जो उस ईर्ष्या से आता है जिसे राधा कृष्ण की प्रेम-पात्र अन्य गोपियों को लेकर अनुभव करती है। श्रीमद्भागवत में गोपियाँ आपस में ऐसी किसी आन्तरिक ईर्ष्या का प्रदर्शन नहीं करतीं। दरअसल, वहाँ अगर ऐसी कोई भावना होती तो कृष्ण और गोपियों के बीच का सारा सम्बन्ध ही असम्भव हो जाता। वे उद्धव-गोपी संवाद में अवश्य ही ऐसी भावना को प्रकट करती हैं लेकिन यह सिर्फ मथुरा की स्त्रियों के सन्दर्भ में है जिन्हें पुरुषों को लुभाने के उनसे कहीं ज्यादा बेहतर तरीके आते हैं, जितने कि गोकुल और नन्दगाँव की देहाती स्त्रियों को आते हैं। इस प्रकार वे उन गोपियों की मण्डली के बाहर हैं जो इस तरह की भावना को अपने बीच कभी जगह नहीं देतीं क्योंकि यह भावना रस के उस मोहक जादूई परिमण्डल को भङ्ग कर उसे आपसी कलह और सन्देह से नष्ट कर देगी।

श्रीमद्भागवत में चरितार्थ ईर्ष्या की निकटतम भावना वह है जिसे गोपियाँ कृष्ण की उस विशेष प्रिय के प्रति व्यक्त करती हैं जिसे कृष्ण उनके बीच से सहसा गायब होते समय अपने साथ ले जाते हैं। लेकिन यह ईर्ष्या की बजाय स्पृहा की भावना है। क्योंकि वे सभी अनुभव करती हैं कि उसने, उस विशेष प्रिय ने, कृष्ण की कहीं अधिक पूजा आराधना की होगी, उसने उन्हें कहीं अधिक प्रेम किया होगा, जिस कारण उन्होंने उसे चुना। फिर भी चूँकि कृष्ण की विशेष प्रिय होने के अभिमान के कारण वह भी उसी तरह परित्यक्त होती है जिस तरह, इसी कारण, शेष सब भी होती हैं, इसीलिए वे सभी अन्ततः उस अभिमान से छुटकारा पा जाती हैं, और इसलिए शरद की पूर्णिमा को वह प्रसिद्ध रास आरम्भ होता है जिसमें हर वस्तु प्रणय से पुष्पित और रञ्जित है।

यह पूरा प्रसङ्ग दसवें सर्ग के मात्र पाँच अध्यायों (29 से 33) में फैला है और श्रीमद्भागवत के कुल अट्ठारह हजार श्लोकों में से महज 174 श्लोकों में वर्णित है,

तब भी, इस नगण्य से अनुपात के बावजूद, इस घटना को समूची कृति के केन्द्रीय सन्देश तथा उस धुरी की तरह बरता गया है जिसके चारों ओर कथा घूमती है। इसका औचित्य तब शायद प्रमाणित होता यदि कथा यहीं समाप्त हो जाती लेकिन, जैसा कि सभी जानते हैं, कृष्ण वृन्दावन और गोकुल को हमेशा के लिए छोड़कर मथुरा और फिर द्वारिका चले जाते हैं और अनेक विवाह करते हैं तथा अपने समय की राजनैतिक घटनाओं में भागीदारी करते हैं। यह प्रसङ्ग उनके लिए एक क्षणिक घटना है, भले ही गोपियों के लिए, वृन्दावन के अन्य सखाओं के लिए, न हो। लेकिन बचपन के कौतुकों से सम्बन्धित दूसरे प्रसङ्गों के साथ-साथ इस प्रसङ्ग ने जिस तरह से बाद की तमाम पीढ़ियों की कल्पना पर विजय पायी है, वह एक पुरुषार्थ के रूप में भक्ति की समझ के लिए बहुत मायने रखता है। यह वात्सल्य और माधुर्य ही है जो अनुभूति के जीवन पर सबसे ज्यादा असर डालते हैं और यही वे चीजें हैं जिनका ईश्वर के साथ सम्बन्ध बनाने की प्रक्रिया में अनुशीलन करना जरूरी है क्योंकि इन भावों के उत्कर्ष के लिए उपयुक्त आलम्बन केवल वही हो सकता है। अन्ततः श्रीमद्भागवत के 'गोपी प्रसङ्ग' का सन्देश यही है कि प्रेम का आदर्श चेतना की प्रणयी अवस्था है जिसका अनुशीलन केवल प्रेम-पात्र के साथ बिताये गये सौभाग्यपूर्ण क्षणों की स्मृति को निरन्तर जगाये रखने और उसी में रमे रहने से किया जा सकता है। यह एक कल्पनाशील पुनर्जीवन और चेतना की उन सूक्ष्म रङ्गतों को अलङ्कृत करना है जो आकाङ्क्षा और पूर्ण तृप्ति के बीच उभरती हैं। श्रीमद्भागवत के शब्दों में;

यथा दूर चरे प्रेष्ठे मन बर्तते।
स्त्रीणां च न तथा चेत सन्निकृष्टेऽसि गोचरे।।
– 35 (अध्याय 47, दशम् स्कन्ध)

जहाँ तक अनुभूतियों के क्षेत्र का प्रश्न है, कल्पना का जगत् उस तथाकथित 'यथार्थ' जगत् के मुकाबले कहीं ज्यादा यथार्थ है, जिसे मनुष्य के ज्ञानात्मक उद्यम का इकलौता विषय माना जाता है। उस कल्पना के जगत् का शाश्वत आकर्षण इसका प्रमाण है।

किन्तु भक्ति के इस दृष्टिकोण में यह मान्यता निहित है कि जिसे हमने जिया है उसके स्मरण का हमारा अनुभव हमारे अनेक विध कल्पनाशील पुनर्सृजन में ऐसा रूप धारण कर लेता है जो उसके मुकाबले कहीं ज्यादा यथार्थ होता है जिसे हमने मूलतः अनुभव किया था। गोपियाँ इस दृष्टि से सौभाग्यशाली थीं कि उन्हें कृष्ण के हमेशा के लिए वृन्दावन छोड़कर चले जाने के पहले उनके साथ कुछ समय बिताने को मिला। अन्य साधारण जीवों के साथ ऐसी स्थिति नहीं है, बशर्ते कि हम प्लेटो और अभिनवगुप्त का अनुसरण करते हुए यह न मान लें कि किसी अतिक्रामी वृन्दावन में हम सभी गोपियाँ रहे हैं जहाँ हमने कृष्ण के साथ क्रीडाएँ की

हैं। सच्चे या झूठे, इस अतिक्रामिता प्रसङ्ग का अनुसरण श्रीमद्भागवत के इन्हीं 174 श्लोकों का पुनरान्वेषण है, और इसमें चित्रित गोपियों का अनुभव ही बाद के भक्तों के लिए इस अनुभव को फिर से जीने तथा उसे कल्पनाशील ढङ्ग से पुनर्सृजित करने का मॉडल बना। न केवल गीतगोविन्द में बल्कि बाद की अनेक कृतियों में इस अनुभव की रचना और पुनर्रचना ही भारतीय परम्परा में भक्ति के एक पुरुषार्थ के रूप में विकसित होने की कथा है। 'ज्ञान' और 'सङ्कल्प' के क्षेत्रों से सम्बन्धित पुरुषार्थ के विपरीत यह अनुभूति के क्षेत्र में, उसमें अन्तर्निहित आदर्श मूल्य के सन्दर्भ में, पुरुषार्थ के विस्तार की कथा है।

इनमें से प्रत्येक पुरुषार्थ की गवेषणा के विकास, उनके सङ्घर्ष और उनके अन्तर्सम्बन्ध की कथा अभी लिखी जानी है; इसी तरह से अन्य संस्कृतियों और सभ्यताओं में इन क्षेत्रों से जुड़ी जिज्ञासाओं के परिप्रेक्ष्य में इस भारतीय गवेषणा की विशिष्टता की पड़ताल भी अभी होनी है।

तथापि इन सभी का प्राथमिक सरोकार इस क्षेत्र में चिन्तन के इतिहास से ताल्लुक रखने वाले सवालों से है। दूसरी ओर, अधिक बुनियादी दार्शनिक समस्याएँ 'ज्ञान', 'अनुभूति' और 'सङ्कल्प' जैसी वृत्तियों के भीतर 'अनुभव' और 'विषय' के आपसी रिश्ते से जुडी हैं। के.सी. भट्टाचार्य और उन्हीं के अनुसरण में कालिदास भट्टाचार्य ने इस पर काफी गहन और विस्तृत काम किया है। लेकिन उनके पर्यवेक्षणों की न तो आलोचनात्मक पडताल हुई है और न ही बाद के चिन्तकों ने इस दिशा में कोई योगदान ही किया है। इस सिलसिले में इन्होंने एक दिलचस्प बात कही है जिसका सम्बन्ध इस तथ्य से है कि अपनी अनुभूति में अनुभवरत चेतना 'विषय' से पूरी तरह 'स्वतन्त्र' हो जाना चाहती है ताकि जैसी वह है वैसी होने के लिए उसे 'विषय' पर निर्भर नहीं रहना पड़े। यह, निश्चिय ही, चेतना की उन्हीं अवस्थाओं के लिए सच होगा जिन्हें चारित्रिक तौर पर निश्चयात्मक रूप में अनुभव किया गया हो। 'अनुभवरत' चेतना को तो अपने आप में ही तात्त्विक रूप से मूल्यवान माना गया है और विषय, जो कि अनिवार्यत: इससे स्वायत्त होता है, पर इसकी निर्भरता को एक ऐसी सीमा के रूप में अनुभव किया गया है जिससे पूरी तरह पार पाना मोक्ष के लिए अनिवार्य है।

तब फिर वह क्या है जिसे गोपियाँ अनुभूति के क्षेत्र में चरम मुक्ति की खोज के रूप में प्रस्तुत करती हैं, और जिसे परम्परा में 'भक्ति' कहकर पुकारा गया है? और क्या महाभारत के कृष्ण का विस्थापन उस धर्म के पुरुषार्थ का विस्थापन है जिसमें मुक्ति का आदर्श गीतोक्त निष्काम कर्म के माध्यम से हासिल किया जाता है? श्रीमद्भागवत कुछ ऐसा ही सङ्केत देती है और भक्ति-परम्परा कभी नहीं समझ पायी कि चेतना के उस नैतिक आयाम का क्या किया जाए जहाँ अन्य के प्रति कृतज्ञता का भाव ही श्रेष्ठ होता है।

अनुभूति के क्षेत्र में विषय पर हर तरह की निर्भरता से पूर्ण मुक्ति की खोज में निहित आदर्श अद्वैत भक्ति के विचार में अपना उत्कर्ष पाता है, यद्यपि इसे इस रूप में बहुत कम देखा गया है। फिर भी, यदि भक्ति के पुरुषार्थ को 'विषय' से पूरी तरह से मुक्त होना है, यहाँ तक कि उसके कल्पित रूप से भी, तो इसका अर्थ है कि मनुष्य उस 'यथार्थ' जगत् से कभी भी सन्तुष्ट नहीं होता जो उसके समक्ष उसके बोधात्मक उद्यम से उद्घाटित होता है। जगत् के इस बोधात्मक ज्ञान का उपयोग वह इस जगत् पर प्रभुत्व कायम करने के लिए करता है, ताकि वह इसे अपनी प्रियतम आकाङ्क्षाओं के अनुरूप गढ़ सके। लेकिन जो कुछ भी वह करता है, वह सब उस कारणात्मक सम्बन्ध से परिसीमित और बाधित होता है, जिसमें वह विद्यमान होता है। कला- 'वस्तु' भी इसी जगत् में स्थित होती है, लेकिन वह इसे गौण और क्षणिक रूप से ही स्पर्श करती है और विभिन्न कलाओं में इसके रूप भिन्न-भिन्न होते हैं।

हालांकि जो मुक्ति मनुष्य देश-काल-कारणता के सम्बन्ध से चाहता है, जिसमें जीवन 'जिया' जाता है, और जिसके अधीन वह अनिवार्यत: है, वह मुक्ति इन कला-सृष्टियों के माध्यम से आंशिक तौर पर ही उपलब्ध होती है क्योंकि व्यक्ति अनुभूतियों के जिस जगत् की आकाङ्क्षा करता है, या जिसे वह पाना चाहता है, वह इस कृत 'वस्तु' पर आत्यन्तिक रूप से निर्भर करता है और इससे बँधा होता है।

इस बन्धन से भी मुक्त होने के लिए व्यक्ति अनुभूतियों के उस जगत् में रहना चाहेगा जो पूरी तरह से स्वायत्त, स्वअवस्थित और आत्मनिर्भर हो। यही वह पुरुषार्थ है जो भारतीय परम्परा में भक्ति का आदर्श है और जिसे उसकी चरम सम्भावना में गोपियाँ रूपायित करती हैं। इस स्वाधीनता का मार्ग उस विशुद्ध कल्पना के सहारे खोजा गया जो देशकाल और कारण के तमाम जैव-सामाजिक बन्धनों से मुक्त हो। लेकिन कोई भी आदर्श पूरी तरह से कभी भी हासिल नहीं किया जा सकता और इसीलिए मानवीय जीवन को जीने का अर्थ प्रदान करने वाले इस पुरुषार्थ में भी अन्वेषण और अभिव्यक्ति की चुनौती बनी रहेगी।

(मूल अंग्रेजी से अनुवाद : मदन सोनी)

❑